करतार सिंह सराभा

चंद्रशेखर आज़ाद

अरविंद घोष

आतंकवाद यात्रा एक शब्द और अवधारणा की

भगत सिंह

मदन लाल धींगरा

खुदीराम बोस

अशफ़ाकउल्ला ख़ाँ

सनी कुमार

आज़ादी के बाद के दशकों में भारत के कई हिस्सों में अनेक हथियारबंद संघर्ष हुए। इनमें तेलंगाना का सशस्त्र किसान आंदोलन, उत्तर-पूर्वी राज्यों में चलाई गयी हथियारबंद मुहिमें और देश के कई हिस्सों में होने वाला नक्सलवादी आंदोलन उल्लेखनीय है। भारतीय राज्य ने इनकी व्याख्या 'आंतरिक राजनीतिक समस्या' के रूप में की। उसके अनुसार ये आंदोलन ऐसी विकृत विचारधाराओं से प्रभावित थे जिनका लक्ष्य किसी समस्या का समाधान नहीं बल्कि राज्य का विनाश करना था। लेकिन, इन आंदोलनों के लिए 'आतंकवाद' शब्द का प्रयोग न के बराबर किया गया। इसकी जगह 'विद्रोह' और 'उग्रवाद' शब्द ज़्यादा प्रचलित रहे। इन आंदोलनों को 'आंतरिक राजनीतिक समस्या' मानने का मतलब था इन्हें मिले जन-समर्थन को नज़रअंदाज़ न करना। इन आंदोलनों का होना और बढ़ना एक लोकतांत्रिक राज्य की पूर्ण स्वीकार्यता को चुनौती थी। जिन क्षेत्रों में इनका प्रभाव था वहाँ राज्य द्वारा अत्यधिक बल प्रयोग और उसके कारण होने वाली स्थानीय जान-माल की क्षति उसकी स्वीकार्यता को और कम कर देती थी। सवाल यह है कि आज की तरह उस ज़माने के उग्रवादियों और नक्सलवादियों को आतंकवादी कह देने से तब सरकार क्यों बच रही थी?

ऑक्सफ़र्ड डिक्शनरी में 'टेररिज़म' शब्द की परिभाषा यह है— 'किसी राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आम नागरिकों के ख़िलाफ़ ग़ैर-क़ानूनी हिंसा और धमकियों का इस्तेमाल।' यह परिभाषा राजनीति को राज्य और क़ानून द्वारा स्वीकृत दायरे में बाँध कर राज्य के विरोध के प्रयासों को दो हिस्सों— वैध या आपराधिक— में वर्गीकृत करती है। लेकिन राज्य के विरोध को आपराधिक क़रार दे कर उसके राजनीतिक चरित्र को ख़ारिज करना बीसवीं सदी के मध्य के लोकतांत्रिक उभार के दौर में आसान नहीं था। सरकार चाह कर भी लोगों की नज़रों में उन लोगों को अपराधी या आतंकवादी नहीं क़रार दे सकती थी क्योंकि क्षेत्रीय जनता उनसे गहरी सहानुभूति रखती थी। लेकिन, पिछले कुछ दशकों में वैश्विक राजनीतिक विमर्श में 'राष्ट्र की सुरक्षा' का सवाल 'नागरिकों के

संवैधानिक अधिकार' से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बनाया गया जिसके फलस्वरूप 'आतंकवाद' (टेररिज़्म') शब्द का प्रचलन बढ़ा। 'राष्ट्रीय सुरक्षा' और 'आतंकवाद' जैसे मुद्दों के उभार के कारण भारतीय राजनीतिक विमर्श के केंद्र में लोकतंत्र की जगह 'अंध-राष्ट्रवाद' को स्थापित करने का प्रयास होने लगा जो कि आज के दौर में काफ़ी मज़बूत हो चुका है। यह कहा जाने लगा है कि भारत को 'सॉफ़्ट स्टेट' (वह लोकतांत्रिक राज्य जो हथियारबंद संघर्षों को राजनीतिक मान कर उनसे बातचीत का रास्ता अपनाता है) से बदल कर 'हार्ड स्टेट' (वह राज्य जो हथियारबंद संघर्षों को 'राष्ट्र के ख़िलाफ़ युद्ध' माने और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए नागरिक अधिकार और राष्ट्रीय सम्पदाओं की क़ुरबानी देने में न हिचके) की ज़रूरत है।

अस्सी और नब्बे के दशक में जब वैश्विक राजनीतिक पटल पर ये बदलाव हो रहे थे तब भारत के पंजाब और कश्मीर प्रांतों में हिंसक अलगाववादी संघर्ष हुए और भारत के दो प्रधानमंत्रियों की हत्याएँ भी हुईं। इसके बारे में पार्थ चटर्जी लिखते हैं, 'उत्तर-औपनिवेशिक राज्य के विमर्श में 'आतंकवाद' और 'आतंकवादी' शब्द पूर्ण निंदा के लिए प्रयोग होने लगे। इसका इस्तेमाल उन लोगों के लिए किया जाता था जो राज्य के ख़िलाफ़ हिंसक कार्रवाइयाँ करते थे और उनके बारे में यह माना जाता था कि वे देश-विरोधी विदेशी ताक़तों से सम्बद्ध हैं। ऐसा करके वे देश के साथ अपनी उस संविदा का उल्लंघन करते थे जिसकी वजह से उन्हें एक नागरिक होने के क़ानूनी अधिकार मिले हुए थे। यह उक्ति आम हो गयी कि 'एक आतंकवादी का नागरिक अधिकार देशहित से ऊपर नहीं है।'[1] 1987 में टाडा (टेररिस्ट ऐंड डिसरप्टिव एक्टिविटीज़ प्रिवेंशन एक्ट) और 2001 में पोटा (प्रिवेंशन ऑफ़ टेररिज़्म एक्ट) क़ानून पास किये गये जिनके कई प्रावधान भारतीय संविधान द्वारा दिये गये नागरिक अधिकारों की अवहेलना करते हैं।[2]

भारतीय राजनीति में 'आतंकवाद' शब्द का उपयोग बीसवीं सदी की शुरुआत से मिलता है। इतिहासकारों और राजनीतिशास्त्रियों का मानना है कि उस दौर में इस शब्द के निहितार्थ आज से भिन्न थे। भारत में इस शब्द के बदलते राजनीतिक मायनों का ऐतिहासिक अध्ययन औपनिवेशिक से उत्तर-औपनिवेशिक भारत में राज्य के चरित्र और राजनीतिक विमर्श में आये बदलाव पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालेगा। ऐसे अध्ययन में पिछले कुछ वर्षों के दौरान राजनीतिक मीमांसा में 'आतंकवाद' और 'राज्य' के संबंधों पर प्रकाशित नयी विवेचनाओं से मदद ली जा सकती है। ज्यॉर्जियो अगम्बेन ने 'स्टेट ऑफ़ एक्सेप्शन' (असाधारण क़ानूनों की सत्ता) के सिद्धांत के माध्यम से राज्य, स्वायत्तता और क़ानून के बीच के जटिल अंतर्संबंधों की चर्चा की है।[3] क़ानून राज्य की स्वायत्तता और वैधता का सूचक है और यह क़ानून ख़ुद वैध तब बनता है, जब वह नागरिक-अधिकार को सुरक्षित करे। पर राज्य का अंतिम लक्ष्य ख़ुद अपनी सलामती है और वह ख़ुद पर आये संकट से निबटने के लिए कई बार ख़ुद ही क़ानूनी बंधनों का उल्लंघन करता है जिससे उसकी ही वैधता ख़तरे में पड़ जाती है। यहाँ तक कि इससे क़ानून अथवा संविधान का यह दावा कि वह राज्य को वैध बनाता है, खोखला दिखने लगता है। ऐसी स्थितियों (जिसे राज्य 'असाधारण परिस्थिति' कहता है) में राज्य ख़ुद को सुरक्षित करने और क़ानून की वैधता बनाए रखने के लिए ऐसे क़ानून बनाता है जो संविधान की मुख्य प्रस्थापनाओं

---

[1] पार्थ चटर्जी (2009).

[2] पिछले कुछ वर्षों में राज्य द्वारा क़ानूनी और संवैधानिक अधिकारों का हनन, आम नागरिकों को शारीरिक यातनाएँ देने और उन्हें जेल में वर्षों तक बंद रखने के मामलों पर कई अच्छे शोध हुए हैं. इन शोधों ने ऐसी घटनाओं को सही ठहराने के लिए सरकारी अधिकारियों द्वारा मीडिया में चलाए गये झूठे बयानों और कहानियों की न सिर्फ़ पड़ताल की है, बल्कि इसके माध्यम से एक नये 'सर्वेलेंस रेज़ीम' को स्थापित करने के तर्क को जनसमर्थन दिलाने और इसके माध्यम से नागरिकता की नयी परिभाषा गढ़ने के प्रयासों का भी अध्ययन किया है. इनमें से एक है मनीषा सेठी (2014).

[3] ज्यॉर्जियो अगम्बेन (2005).

का उल्लंघन करते प्रतीत होते हैं और जो राज्य को वैध रूप से हिंसा करने की खुली छूट दे देते हैं। इस दौर में राज्य और उनके विरोधियों द्वारा की जा रही हिंसा में कोई अंतर नहीं जान पड़ता जिससे राज्य की वैचारिक स्वीकार्यता और स्वायत्तता ख़तरे में पड़ जाती है। अगम्बेन के अनुसार क़ानून एक मिथक है जो दो एक जैसी गतिविधियों को वैध और अवैध श्रेणियों में बाँटता है। यह इस दौर में साफ़ दिखता है। अगम्बेन के ये विचार औपनिवेशिक दौर के राज्य, क़ानून, स्वायत्तता और उपनिवेशविरोधी संघर्षों के बीच के संबंधों के अध्ययन में काफ़ी मदद कर सकते हैं।

इस लेख में हम औपनिवेशिक राज्य द्वारा 'रूल ऑफ़ लॉ' और 'वैध राजनीति' के मिथकीय सिद्धांतों (जिनसे वह राज्य अपने को मुक्त रखता था) के माध्यम से आम लोगों पर नियंत्रण, स्वायत्तता और स्वीकार्यता बनाए रखने के उसके प्रयासों का अध्ययन करेंगे। इन सिद्धांतों के माध्यम से ब्रिटिश राज्य हथियारबंद एवं अन्य तरह की हिंसा पर अपना एकाधिकार स्थापित करना और उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति में हिंसा और आतंक के इस्तेमाल को ख़त्म करना चाहता था। इतिहास में कई अवसरों पर आम लोग राज्य के ख़िलाफ़ संघर्ष में हिंसा पर राज्य के एकाधिकार को चुनौती देते हैं जिससे न सिर्फ़ हिंसा और हथियारों के राजनीतिक इस्तेमाल का जनवादीकरण होता है, बल्कि राज्य द्वारा जनता पर क़ाबू रखने के लिए वैध राजनीति के बारे में गढ़े गये सारे मिथक ध्वस्त हो जाते हैं और लोगों को सत्ता का असली चरित्र दिखने लगता है। मेरा तर्क है कि ऐसी स्थिति से निबटने के लिए ब्रिटिश राज्य ने कई 'असाधारण' क़ानून अथवा क़ानूनी अवधारणाएँ बनाईं जैसे कि 'सिडीशन' (राजद्रोह), (कांसपिरेसी), 'षड्यंत्र' मार्शल लॉ और 'टेररिज़्म' आदि । इन अवधारणाओं के माध्यम से ब्रिटिश राज्य कुछ ख़ास कार्रवाइयों और संगठनों को ग़ैर-राजनीतिक, आपराधिक और अमानवीय घोषित कर उन पर 'असाधारण' क़ानूनों के माध्यम से दमन को न्यायसंगत सिद्ध करने की कोशिश करता था।

इस लेख में ब्रिटिश काल में 'आतंकवाद' शब्द के इस्तेमाल के इतिहास का अध्ययन हमें उस दौर से ले कर अब तक के इतिहास-लेखन में उपनिवेशवाद विरोधी क्रांतिकारियों के लिए इस शब्द का इस्तेमाल के मायनों से भी अवगत कराएगा, ख़ासकर यह कि किस तरह इतिहासकारों ने इन गतिविधियों को ठीक उसी तरह ग़ैर-राजनीतिक व ग़ैरज़िम्मेदार माना जैसे कि राज्य के विमर्श में देखा जाता है। 'आतंकवाद' शब्द के इतिहास का यह अध्ययन भारत में आधुनिक राज्य और राजनीति के औपनिवेशिक उद्भव की विशिष्टता के बारे में भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बताता है। इस लेख में मैंने भारत में आधुनिक राजनीति के उद्भव की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण द्वंद्व की चर्चा भी की है। इसके तहत एक तरफ़ ब्रिटिश और सम्भ्रांत राष्ट्रवादी राजनीति के नेता अपनी आपसी सहमति से उपनिवेशविरोधी क्रांतिकारियों की राजनीतिक गतिविधियों को अवैध और अनैतिक घोषित कर उसकी सामाजिक स्वीकृति ख़त्म करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर क्रांतिकारी संगठन इस राजनीतिक रणनीति को ध्वस्त कर उपनिवेशवाद विरोध की एक मौलिक राजनीति स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे।

बीसवीं सदी की शुरुआत में उपनिवेशवाद

ब्रिटिश सत्ता ने वक़्त के साथ बढ़ती प्रशासनिक व्यवस्था में श्रम का विभाजन नस्ली आधार पर क़ायम किया था।[4] विचार के स्तर पर भी भारतवासियों को स्वाधीनता जैसे कई अधिकारों के लिए अयोग्य माना गया। वहीं, दूसरी ओर भारत में आधुनिक राज्य, प्रशासन, शिक्षा, प्रकाशन, तकनीक आदि के विकास से लोगों में आधुनिक विचारों, इच्छाओं और चेतनाओं को भी बढ़ावा मिल रहा था। इन दोनों प्रवृत्तियों के बीच एक द्वंद्वात्मक रिश्ता विकसित हो रहा था जो भारतीय उपनिवेशवाद का परिचायक

---

[4] इस तर्क के लिए देखें : एत्येन बालिबार और इमानुएल वालरस्टीन (1991)

था। जहाँ एक ओर ब्रिटिश शासन भारत को मुख्यत: तात्कालिक आर्थिक शोषण की चीज़ मानता था, वहीं भारतीय शिक्षित वर्ग अपने लिए राजनीतिक और आर्थिक अधिकार, समानता व भागीदारी और 'रूल ऑफ़ लॉ' की बात करने लगा था। अंग्रेज़ों ने 'रूल ऑफ़ लॉ' की माँग का जवाब कई ऐसे क़ानून बना कर दिया जो हर तरह के आधुनिक मानवाधिकारों की परिकल्पना के ख़िलाफ़ थे।[5] इनका एक प्रमुख उदाहरण था— सेक्शन 121 ऑफ़ इण्डियन पीनल कोड (सिडीशन क़ानून) अर्थात् भारतीय दण्ड संहिता का अनुच्छेद 121 जिसका ताल्लुक़ राजद्रोह के आरोप से थो।

राबर्ट डार्नटन के अनुसार ब्रिटिश शासन व्यवस्था एक वक़्त के बाद सर्वेलेंस (निगरानी) पर ज़ोर देने लगी। इसकी शुरुआत प्रेस ऐंड रजिस्ट्रेशन ऑफ़ बुक्स एक्ट, 1867 के पारित होने से मानी जा सकती है। लेकिन यह एक्ट बीसवीं सदी की शुरुआत तक ही ब्रिटिश व्यवस्था के साम्राज्यवादी एजेण्डे का प्रमुख हथियार बन पाया। इस दौर में ऐसा समस्त साहित्य ज़ब्त किया जाने लगा जिसे कुछ दशक पहले तक बेरोक-टोक पढ़ा जा रहा था। तीन दशक पहले पास हुए सिडीशन क़ानून का इस्तेमाल उन्नीसवीं सदी के अंत तक प्रचलित होने लगा। इनमें सबसे चर्चित मामला 1897 में बाल गंगाधर तिलक की गिरफ़्तारी और 18 महीने की सज़ा का था। उन्हें *केसरी* अख़बार में लिखे अपने लेख में शिवाजी द्वारा मुग़ल सेनापति अफ़ज़ल ख़ान के वध को सही ठहराने के लिए इस क़ानून के तहत दोषी पाया गया। इस क़ानून के मुताबिक़ हर वह कार्य जो सरकार के ख़िलाफ़ विरोध अथवा वैमनस्य की भावना पैदा करता है अथवा करने कि कोशिश करता है, एक दण्डनीय अपराध है।[6] इस क़ानून ने अभूतपूर्व रूप से किसी कार्य या उसके परिणाम को नहीं बल्कि इच्छा को भी दण्डनीय बना दिया था। तिलक जैसे कई मामलों में यह साफ़ था सब कुछ ब्रिटिश जजों की मनमानी व्याख्या पर निर्भर था। डार्नटन का यह आकलन सही है कि ज़्यादातर मामलों में अभियुक्त को पहले ही दोषी मान लिया जाता था और सुनवाई महज़ क़ानून-व्यवस्था का दिखावा भर थी।

एक तरफ़ ब्रिटिश और सम्भ्रांत राष्ट्रवादी राजनीति के नेता अपनी आपसी सहमति से उपनिवेशविरोधी क्रांतिकारियों की राजनीतिक गतिविधियों को अवैध और अनैतिक घोषित कर उसकी सामाजिक स्वीकृति ख़त्म करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर क्रांतिकारी संगठन इस राजनीतिक रणनीति को ध्वस्त कर एक मौलिक उपनिवेशवाद विरोधी राजनीति को स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे।

प्रथम विश्व-युद्ध के दौर में ब्रिटिश हुकूमत ने अप्रत्याशित दमन व हिंसा का प्रयोग किया। शुरुआत के वर्षों में मित्र-राष्ट्रों की कठिनाइयों ने अंग्रेज़ों की भारतीय सैनिकों पर निर्भरता इस क़दर बढ़ा

दी कि उसका पहले आकलन नहीं किया जा सकता था। लाखों अप्रशिक्षित भारतीय युवा युरोपीय सेनाओं के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए भेजे जाने लगे। अनाज, उपभोग की वस्तुएँ और युद्ध का कर ग़रीब भारतीयों पर असहनीय बोझ बन गया। सरकारी निरंकुशता और दमन स्वदेशी आंदोलन के दिनों

[5] यह एक रोचक और अध्ययन-योग्य विषय है कि किस प्रकार औपनिवेशिक सत्ता 'रूल ऑफ़ लॉ' के प्रयोग और निलम्बन के बीच झूलती रही ताकि वह भारतीयों की राजनीतिक गतिविधियों को नियंत्रित करने के साथ-साथ उन पर वक़्त-वक़्त पर अंकुश लगा सके. देखें, नासिर हुसैन (2003).

[6] रॉबर्ट डार्नटन (2001) : 150.

से भी कहीं ज़्यादा बढ़ चुका था लेकिन स्वदेशी आंदोलन जैसा कोई भी विरोध का स्वर भारतीय राजनीति के शीर्ष नेतृत्व से नहीं उठा। ब्रिटिश सरकार युद्ध की घोषणा के वक़्त से ही भारतीय राजनीतिक नेतृत्व की वफ़ादारी के प्रति आश्वस्त थी। लॉर्ड हार्डिंग ने अपने भाषण में कहा, 'इस युद्ध को हमने नहीं चुना बल्कि यह ज़बर्दस्ती और छल-स्वरूप हम पर थोपा गया है।'[7] अंग्रेज़ों ने प्रथम विश्व-युद्ध को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के लोगों की आज़ादी पर जर्मन निरंकुश राज्य द्वारा हमले का नतीजा बताया और सामाजिक अभिजात वर्ग के लोगों से अधिकतम समर्थन की अपील की। भारतीय राजनीतिक नेतृत्व के सभी उल्लेखनीय घटक, जैसे कांग्रेस, ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग, ख़ालसा दीवान सहित कई प्रांतीय, जातीय संगठनों ने पूर्ण वफ़ादारी और बिना शर्त सहयोग की घोषणा की। एक तरफ़ अप्रत्याशित दमन और दूसरी तरफ़ पूरे राजनीतिक नेतृत्व द्वारा घोषित वफ़ादारी के बीच भारतीय क्रांतिकारियों की गतिविधियों पर भी अंकुश लग गया और कुछ बचे-खुचे समूह छोटी-मोटी हिंसक कार्रवाइयों को अंजाम देने की कोशिश करते रह गये। आम लोगों के बीच युद्ध-विरोध की राजनीति ले जाना वाला शायद ही कोई संगठन बचा था।

इनमें एक मात्र अपवाद ग़दर आंदोलन था जिसने भारतीय राष्ट्रवादियों द्वारा युद्ध के समर्थन को चापलूसी और साम्राज्यपरस्ती की संज्ञा दी। इस बात की परवाह किये बिना कि यह संगठन अभी लगभग दो वर्ष पहले ही अमेरिका में बना था, ग़दरियों ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। युद्ध में किये जा रहे दोहन के ख़िलाफ़ स्थानीय विरोधों और ग़दर आंदोलन जैसे संगठित संघर्षों से निबटने के लिए सरकार ने कुछ असाधारण क़दम उठाए जिसमें सबसे प्रमुख था 1915 का डिफ़ेन्स ऑफ़ इण्डिया एक्ट या भारत रक्षा क़ानून। इस एक्ट के तहत पुलिस को आम नागरिकों को बिना ठोस सबूत के भी गिरफ़्तार करने (एक्ट IV सेक्शन 2j), तलाशी लेने (सेक्शन 2i) और प्रांत से बेदख़ल (सेक्शन 2f) करने के अधिकार दिये गये।[8] मुख्यधारा की सभी राजनीतिक हस्तियों ने इन काले क़ानूनों का यह सोच कर समर्थन किया कि अंग्रेज़ इन्हें सिर्फ़ क्रांतिकारियों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करेंगे और युद्धोपरांत इन्हें वापस ले लिया जाएगा। युद्ध के ख़त्म होने पर सरकार ने जस्टिस रौलट की अध्यक्षता में सेडीशन कमिटी का गठन किया जिसने लोगों के क़ानूनी अधिकार बढ़ाने और भारत रक्षा क़ानून वापस लेने के ख़िलाफ़ सुझाव दिये। उन्होंने कई दण्डात्मक और प्रतिबंधक क़दम सुझाए जिनमें बिना न्यायपीठ की संक्षिप्त सुनवाई और पुलिस को किसी भी व्यक्ति को एक साल तक 'ग़ैर-दण्डात्मक' हिरासत में रखने के अधिकार शामिल थे। इन सुझावों को सरकार ने पास कर दिया। इन्हें मार्शल लॉ अथवा रौलट एक्ट भी कहा जाने लगा।[9] बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में थोपा गया यह मार्शल लॉ असलियत में कोई क़ानून नहीं बल्कि क़ानून का स्थगन था ताकि उसके बदले कार्यपालिका के हुक़्म या सेना की युद्ध-शक्ति का इस्तेमाल आम नागरिकों पर किया जा सके। वैसे तो सामाजिक शांति पर ख़तरा बता कर इसे क़ानून-व्यवस्था को वापस स्थापित करने के नाम पर जनहित में लगाया जाता था, पर इसका मुख्य इस्तेमाल ग़दर आंदोलन जैसी क्रांतिकारी गतिविधियों द्वारा औपनिवेशिक राज्य को दी जा रही चुनौती से निबटना था।

इस दौर में ग़दरियों के नृशंस दमन, कोमागातामारू जहाज़ की त्रासदी और जलियाँवाला बाग़ का जनसंहार जैसे क़दम सिर्फ़ राज्य को तात्कालिक ख़तरे से बचाने के उद्देश्य से नहीं बल्कि एक निरंकुश औपनिवेशिक सत्ता को पुन: सुदृढ़ करने के लक्ष्य से उठाए गये। जनरल डायर ने उस जनसंहार के बारे में यह कहा, 'मेरा उद्देश्य विशिष्ट नहीं था बल्कि मेरी कार्रवाई विशिष्ट थी, जिसका उद्देश्य

---

[7] 8 सितम्बर, 1914 को दिया गया वायसराय का भाषण, लेजिस्लेटिव काउंसिल प्रोसिडिंग, इण्डिया (1914-1915), खण्ड LIII : 2

[8] http://lawmin.nic.in/legislative/textofcentralacts/1915.pdf, 15 दिसम्बर, 2017 को देखा गया.

[9] सिडीशन कमिटी रिपोर्ट (1918).

सामान्य शासन को (पूरे पंजाब में) स्थापित करना था।'[10] डायर का मतलब साफ़ था कि पंजाब के लोगों को ब्रिटिश सत्ता की ताक़त का अंदाज़ा दिलाने के लिए उसने यह क़दम उठाया था और जिन लोगों पर गोली चली उनके ब्रिटिश विरोधी होने या न होने के सवाल में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। इस घटना के तुरंत बाद पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया जिसके तहत पुलिस को दमन की खुली छूट दे दी गयी।

इस लेख के अगले अंश में मैं यह स्थापित करने कि कोशिश करूँगा कि औपनिवेशिक भारत में यह 'स्टेट ऑफ़ एक्सेप्शन' (असाधारण क़ानूनों की सत्ता) अंग्रेज़ों द्वारा उपनिवेशवाद विरोधी उग्र जनांदोलनों और क्रांतिकारी गुटों के संघर्ष को दबाने का प्रयास थी। इन कार्रवाइयों को न तो अंग्रेज़ और न ही भारतीय राजनीति का शीर्ष अभिजात नेतृत्व एक 'वैध' राजनीति के रूप में स्वीकार करने को तैयार था। लेकिन साथ ही 1919 से पहले 'वैध' राजनीति करने वाले नेताओं का शायद ही कोई हिस्सा था जिसने औपनिवेशिक सत्ता द्वारा किये जा रहे शोषण और दमन का पूर्ण विरोध किया हो। पूर्ण विरोध की राजनीति को दबाने की क़वायद ही उसे हिंसा के रास्ते पर ले गयी और तब उसके विरोधियों ने 'टेररिज़म' (आतंकवाद) नाम का मिथकीय शब्द गढ़ा जिसका राजनीतिक लक्ष्य क्रांतिकारियों और उनकी गतिविधियों को 'अराजनीतिक', 'अराजक', 'अवैध' और 'अमानवीय' साबित करना था। यह शब्द आधिकारिक विमर्श में 1920 के दशक में इसी लक्ष्य से इस्तेमाल किया गया।

'भारतीय क्रांतिकारी ... नहीं मानते कि सिर्फ़ आतंकवाद से ही आज़ादी हासिल की जा सकती है। वे सिर्फ़ आतंकवाद की ख़ातिर आतंकवाद नहीं चाहते, भले ही वे कभी-कभी प्रभावी जवाबी कार्रवाई के बतौर इसका इस्तेमाल करते रहे हों। ... सरकारी आतंकवाद के बदले जवाबी-आतंकवाद ज़रूरी है। समाज के हर वर्ग में ज़बरदस्त निराशा का भाव है और इसे दूर कर समाज में जोश भरने के लिए आतंकवाद एक प्रभावी तरीक़ा बन जाता है।'

औपनिवेशिक भारत में 'टेररिज़म' शब्द की प्रस्तावना

बीसवीं सदी के पहले दशक में, ख़ासकर स्वदेशी आंदोलन के दौर में कांग्रेस का 'गरम' ख़ेमा और बंगाल के उदीयमान 'टेररिस्ट' गुटों के बीच दूरी काफ़ी कम हो गयी थी। उपनिवेशवाद विरोध के स्वर पहली बार कांग्रेस में सुनाई दे रहे थे। पहले की तरह अंग्रेज़ों की कुछ ग़लत नीतियों की निंदा तक सीमित रहने से आगे बढ़ कर वे अंग्रेज़ों के विदेशी मूल और औपनिवेशिक चरित्र पर भी सवाल उठा रहे थे। इसी दौर में पहली बार एक मौलिक और समझौतारहित संघर्ष का विमर्श बंगाल से निकल कर उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों में फैल रहा था। इस दौर के 'उग्र राष्ट्रवादी' अपने को एक देशभक्त के रूप में देखते थे जो देश में फैली ग़रीबी, पिछड़ेपन और अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों पर किये जा रहे ज़ुल्म और नस्ली दुर्व्यवहार से क्षुब्ध थे। उनका मानना था कि भारतीय राजनीतिक नेतृत्व की अंग्रेज़ों के साथ मिलीभगत ने जनता को असहाय कर सुप्तावस्था में भेज दिया है। भारतीय जनता को इस नींद से जगाने और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करने के लिए सिर्फ़ विचार या भाषण नहीं, बल्कि बहादुराना गतिविधियाँ ज़रूरी थीं। कांग्रेस समेत बाक़ी शीर्ष संगठनों से वे नाउम्मीद हो चुके थे और स्वदेशी आंदोलन में उनके द्वारा जनता को संगठित और आंदोलित करने के

[10] नासिर हुसैन, वही : 128–29.

प्रयास में उन्हें अंग्रेज़ों का ज़बरदस्त दमन झेलना पड़ा था। इन प्रयासों में उन्हें जनता की भी बेरुख़ी सहनी पड़ी। उनका यह मानना था कि अंग्रेज़ों के ज़ुल्म से लोग भयभीत हैं और उन्हें लोगों के बीच से अंग्रेज़ों का डर और उनकी अजेयता के भाव को ख़त्म करना होगा। उन्हें ऐसी कार्रवाइयाँ करनी होंगी जिससे अंग्रेज़ों को भारतीयों पर ज़ुल्म करने से पहले डर लगे और लोगों में जोश आये। जैसे अंग्रेज़ भारतीयों को डरा कर क़ाबू में रखने के लिए जलियाँवाला बाग़ जैसे सार्वजनिक दण्ड देकर उदाहरण पेश करते थे, वैसे ही अंग्रेज़ों का मनोबल तोड़ने के लिए उनके सबसे ज़्यादा घृणित अफ़सरों की हत्या जैसी कार्रवाइयाँ करनी होंगी। ऐसा नहीं था कि उस दौर के प्रमुख क्रांतिकारी विचारक इन हत्याओं को ही एकमात्र रास्ता मानते थे।

उत्तर-स्वदेशी बंगाल के एक क्रांतिकारी विचारक अरविंद घोष यह लिखते रहे कि सिर्फ़ इन हत्याओं से भारत को आज़ादी नहीं मिलेगी। ग़दर आंदोलन के मुख्य नेताओं में से एक हरदयाल ने उसी दौर में लिखा कि हिंसा भले ही कुछ हद तक ज़रूरी हो पर वह एकमात्र रास्ता नहीं हो सकती। क्रांतिकारी आंदोलन 'अभी नवजात है और इस पड़ाव पर अधिकतम ऊर्जा प्रचार में लगाने की ज़रूरत है।'[11] लेकिन जिस दौर में राजनीतिक वर्ग और लगभग सभी अख़बार इन घटनाओं की निंदा और क्रांतिकारियों पर कठोर कार्रवाई की माँग करते थे, उस दौर में इन घटनाओं के महत्त्व का इन विचारकों को आभास था। घोष और हरदयाल जैसे कुछ लोग अपने लेखों के माध्यम से इन हत्याओं के राजनीतिक अर्थ, ज़रूरत और इसको अंजाम देने की हिम्मत का आभास आम लोगों को करा रहे थे। नासिक हत्याकाण्ड के बाद घोष ने लिखा :

> हम यह देखते हैं कि जहाँ भी अधिकारियों द्वारा कठोर दमन की घटनाएँ सामने आती हैं वहीं षड्यंत्रकारी युवाओं द्वारा जवाबी हिंसा की छिटपुट घटनाएँ भी होती हैं, जो अपने चरित्र में अतार्किक और निरुद्देश्य होती हैं। नासिक हत्याकाण्ड क्रांतिकारी वक्ता सावरकर को ख़तरनाक रूप से दी गयी कठोर सज़ा का बदला लेती आतंकी कार्रवाई थी।[12]

कर्नल वायली की हत्या के बाद मदन लाल धींगरा का अपनी सुनवाई में दिया गया बयान *डेली न्यूज़* नामक अख़बार में छपा जिसमें कहा गया था :

> मैं यह मानता हूँ कि उस दिन मैंने देशभक्त भारतीय युवाओं को सूली पर चढ़ाए जाने और देश-निकाले का बदला लेने के लिए ख़ून बहाया ...। मैं यह मानता हूँ कि विदेशियों द्वारा बंदूक़ की नोक पर बंधक बना हुआ देश हमेशा युद्ध की स्थिति में रहता है। चूँकि निरस्त्र कर दी गयी क़ौमों के लिए खुली जंग करना सम्भव नहीं है, इसीलिए मैंने अप्रत्याशित हमला किया। चूँकि हमसे हथियार छीन लिए गये हैं, इसीलिए मैंने अपनी पिस्तौल निकाल कर गोली चलाई ... आज अगर भारत को किसी एकमात्र सीख की ज़रूरत है तो वह यह कि मृत्यु को कैसे अपनाया जाए और यह सीख हम औरों को स्वयं मर कर ही दे सकते हैं..। हिंदू और अंग्रेज़ी क़ौमों के बीच यह युद्ध तब तक चलता रहेगा जब तक उनके बीच का यह अस्वाभाविक संबध ख़त्म न हो जाए।[13]

स्वदेशी आंदोलन के अगले एक दशक तक यह उग्र-राष्ट्रवादी गुट भारत में कोई बड़ा जनांदोलन नहीं खड़ा कर पाया और सिमटता चला गया। कई बार छोटी-बड़ी कार्रवाइयों से उत्साह बढ़ा तो कुछ विचारकों ने बम और हिंसा को क्रांतिकारी राजनीति का केंद्र बताना शुरू कर दिया। जब दिल्ली में 1912 में वायसराय लॉर्ड हार्डिंग हुए बम हमले की ख़बर अमेरिका में हरदयाल को मिली तो उन्होंने उसका स्वागत किया। उन्होंने 'शाबाश' शीर्षक से एक परचा जारी किया जिसमें देश के युवाओं से यह आह्वान किया गया— 'अब चुप मत बैठो। मृत्यु निकट है— मारो या मारे जाओ, मरने से पहले

---

[11] माया रामनाथ (2011) : 102.

[12] अरविंद घोष का लेख, निवेदिता मजूमदार (सं.) (2011) : 12.

[13] चमन लाल और जगमोहन सिंह (सं.) (2001) : 127-28.

कुछ महान् कार्य कर जाओ।' उस पर्चे में उन्होंने आगे बम के कई फ़ायदे बताए। बम तुरंत नतीजे देता है, दुश्मन को सही संदेश पहुँचाता है और निराशा की रात्रि में भटके हुए राही को आशा की रोशनी दिखाता है। बम की भाषा वैश्विक है। ताक़तवर को विनम्रता नहीं बल्कि हिंसा ही बदलने, सुधरने और दमन में छूट देने पर विवश कर सकती है। बम ऐसी सरकारों में डर पैदा कर उन्हें सुधार करने पर मजबूर कर सकता है।' उन्होंने आगे यह भी लिखा कि एशियाई देशों में बम का आना भविष्य में उनकी आज़ादी का संकेत था।[14] रनबीर समदार का यह मानना है कि भारत में 'आधुनिक राजनीतिकर्ता' (जो राजनीति की स्वायत्तता को प्रस्तावित और स्थापित करे) के उद्‌भव में इन आरम्भिक उग्र-राष्ट्रवादियों की प्रमुख भूमिका थी।[15] उस दौर में भारतीय राजनीति में सर्वव्याप्त अंग्रेज़परस्ती के विरोध में इन उग्र-राष्ट्रवादियों ने अपने अस्तित्व को गढ़ा। उनके द्वारा स्थापित किये गये देश और विदेश में नये सम्पर्कों ने ग़ैर-क्षेत्रीय संघर्ष की चेतना, नये क़िस्म के संचार, 'आंतरिक यायावरी'— अर्थात् जड़ों से सचेतन कटाव— और नये अनुभवों से जुड़ने की इच्छा पैदा की। इन सब ने एक ऐसी 'सूक्ष्म-राजनीति' को जन्म दिया जिसकी आशंका न तो औपनिवेशिक सत्ता को थी न ही राष्ट्रवादी शीर्ष नेतृत्व को।[16] आरम्भिक उग्र-राष्ट्रवादियों ने न सिर्फ़ 'आतंक' को एक राजनीतिक हथियार बनाने की कल्पना की बल्कि उसे ज़मीन पर उतारने का भरपूर प्रयास भी किया।

'लोग कहते हैं कि हमने देश में आतंकवाद फैलाना चाहा है, यह ग़लत है। इतनी देर तक मुक़दमा चलता रहा। हममें से बहुत-से लोग बहुत दिनों तक आज़ाद रहे और अब भी कुछ लोग आज़ाद हैं (संकेत चंद्रशेखर आज़ाद की ओर है)। फिर भी हमने या हमारे किसी साथी ने हमें नुक़सान पहुँचाने वालों तक पर गोली नहीं चलाई। हमारा उद्देश्य यह नहीं था। हम तो आज़ादी हासिल करने के लिए देश-भर में क्रांति लाना चाहते थे।'

1920 के दशक और उसके बाद जैसे-जैसे बूर्ज़्वा-क़ानूनी दृष्टिकोण भारतीय राजनीति पर हावी होने लगा, वैसे-वैसे भारतीय इतिहास-लेखन भी उसके असर में आता चला गया। इसके फलस्वरूप इस दौर में जल्द ही देश भर में फैल चुके असंगठित और असमन्वित उग्र उपनिवेशविरोधी आंदोलनों के राजनीतिक महत्त्व को इतिहास-लेखन की मुख्यधारा में काफ़ी समय तक अनदेखा किया गया। इन आंदोलनों से जुड़े व्यक्तित्वों के राजनीतिक इतिहास पर इतिहासकारों ने पिछले कुछ वर्षों से ही गम्भीरता से ध्यान देना शुरू किया है। इतिहासकार अब इस बात को रेखांकित कर रहे हैं कि असंगठित और असमन्वित उग्र उपनिवेशविरोधी आंदोलनों से जुड़े व्यक्तित्वों ने आज़ादी और क्रांति से संबंधित आधुनिक पश्चिमी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। भारत के संदर्भ में ऐसे साहित्य के उत्पादन पर ज़ोर देना आंदोलनकारियों की कार्रवाइयों का एक अनुपूरक पक्ष था। इनके विचारों और गतिविधियों पर युरोपीय क्रांतिकारी गुटों के विचारों और कार्यनीतियों का स्पष्ट प्रभाव अंग्रेज़ अधिकारियों के लिए हैरानी का विषय था। आधिकारिक विमर्श में इन लोगों के लिए अराजकतावादी (अनार्किस्ट) और क्रांतिकारी (रिवोल्यूशनरी) शब्द का

---

[14] माया रामनाथ, वही : 97.

[15] रनबीर समदार का लेख, समीर कुमार दास और रादा इवेकोविक (सं.) (2010) : 68.

[16] वही : 72.

प्रयोग किया जाता था और 1920 के दशक से पहले आतंकवादी (टेररिस्ट) का प्रयोग न के बराबर ही किया गया था।

आधुनिक-प्रबुद्ध-उदारतावादी लबादा ओढ़ने वाले सरकारी विमर्श के लिए देशज भाषाओं में आधुनिक विचारों का सूत्रीकरण और उसका अंग्रेज़ों के आधुनिक शासन की आलोचना के लिए इस्तेमाल को आसानी से पचा पाना मुश्किल था। वायसराय मिंटो के कार्यकाल में औपनिवेशिक राज ने बंगाली क्रांतिकारियों द्वारा गीता के धार्मिक सिद्धांतों और काली की उपासना को रेखांकित कर उन्हें धार्मिक कट्टरपंथी होने की संज्ञा दी। इस प्रकार की सुविधाजनक प्राच्यवादी शब्दावली का इस्तेमाल कर आधिकारिक विमर्श इन क्रांतिकारियों की राजनीतिक चेतना को धूमिल करने का प्रयास करता था। श्रुति कपिला और रनबीर समदार ने अपने हालिया लेखों में इस सवाल पर बात की है कि किस प्रकार इन क्रांतिकारियों ने धार्मिक साहित्य का इस्तेमाल 'सच्चरित्र अनुशीलन के ऐसे उपयुक्त अभिप्राय का सूत्रीकरण करने के लिए किया जो उपनिवेशवाद, उपयोगितावाद और 'रूल ऑफ़ लॉ' के सिद्धांतों के ख़िलाफ़ हो।'[17] उन्होंने धर्म की एक नयी व्याख्या की जो आतंक (टेरर) का उपयोग 'सम्प्रभुता के टकराव' को दर्शाने के लिए करे और औपनिवेशिक सम्प्रभुता के दायरे के बाहर एक नये राजनीतिकर्ता के निर्माण को अंज़ाम दे।

बीसवीं सदी की शुरुआत के क्रांतिकारियों के संदर्भ में सुमित सरकार लिखते हैं— 'क्रांतिकारी आंदोलन ने इस दौर में शोषक अधिकारियों और गद्दारों की हत्या, संसाधन के लिए स्वदेशी डकैतियाँ और अंग्रेज़ों के विदेशी दुश्मनों की मदद की आशा ने सैन्य विद्रोह के षड्यंत्र का रूप लिया। कुछ लोगों की व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बावजूद यह कभी भी शहरों में जन-विद्रोह या गाँवों में गुरिल्ला आधार बनाने के स्तर तक नहीं पहुँचा। इसीलिए यहाँ 'आतंकवाद' शब्द का इस्तेमाल ग़लत नहीं है।'[18] सुमित सरकार इस आंदोलन की कई अन्य वजहों से आलोचना करते हैं। पहला, इसकी अतिशय धार्मिकता (जिनके प्रतीक ऊँची जातियों से आये थे) हाशिये पर जी रहे समूहों के अंग्रेज़ विरोधी गुस्से के सूत्रीकरण को अपने साथ जोड़ पाने में बाधक थी। दूसरा, गीता के निष्काम कर्म के सिद्धांत का अति-प्रभाव उन्हें एक व्यापक राजनीतिक कार्यक्रम के निर्माण से दूर एक काल्पनिक पराक्रम की ओर ले जाता था।[19] औपनिवेशिक लेखनी में गीता के सिद्धांतों को धार्मिक कट्टरपंथ के रूप में देखने और सुमित सरकार द्वारा उसे काल्पनिक पराक्रम के स्रोत के रूप में देखने के बीच एक समरूपता प्रतीत होती है जिसके पीछे क्रांतिकारी विमर्श की 'अतर्कवाद' और 'रोमांटिसिज़म' से तुलना करने का समस्यात्मक दृष्टिकोण दिखता है। इस तरह का इतिहास-लेखन राज्य का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए भी उसके द्वारा तय किये गये पैमानों पर ही अपनी व्याख्या केंद्रित रखता है। ऐसा दृष्टिकोण इतिहास के ऐसे दौर में, जब राजनीतिक चेतना, परिभाषा, अवधारणा, सूत्रीकरण व सम्बोधन के तरीक़े और कार्य प्रणाली में बदलाव हो रहे हों, उस दौर की गतिविधियों को सूक्ष्मता से देखने में बाधा पैदा करता है। ऐसे दौर में कई बार नयी सोच और संवेदनाएँ पुरानी उक्तियों और मुहावरों में व्यक्त की जाती हैं जिसे बहुत ही संवेदनशीलता से देखने कि ज़रूरत होती है। ऐसे में अगर इतिहासकार एक उचित और विवेकपूर्ण राजनीतिक व्यक्तित्व की पहचान न सिर्फ़ पश्चिमी-आधुनिक विचारों से बल्कि उन विचारों के पश्चिमी-आधुनिक भाषा/शब्दावली में सूत्रबद्ध होने से ही करे तो फिर कई राजनीतिक कार्यकर्ता और गतिविधियाँ इतिहास-लेखन के पैमानों पर ख़री नहीं उतरेंगी और धार्मिक पुस्तकों का पढ़ा जाना रूढ़िवाद की ही निशानी मानी जाएगा।

---

[17] वही : 70. इसके अलावा देखें, श्रुति कपिला का लेख.

[18] सुमित सरकार (1983) : 124.

[19] वही.

यह कहानी और भी जटिल हो जाती है जब ग़दर आंदोलन का उद्‌भव होता है। यह आंदोलन अमेरिका में बसे अप्रवासी सिखों, कृषकों, मज़दूरों, छात्रों और बुद्धिजीवियों के 1910 के दशक में संगठित होने से शुरू हुआ। मैंने अपने एक अन्य लेख में इसके साम्राज्यविरोधी, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और समाजवादी चरित्र और भारत में सशस्त्र क्रांति को बाहर से आयातित कर फैलाने की योजना का अध्ययन किया है।[20] बंगाली क्रांतिकारी गुटों और युरोप स्थित प्रवासी भारतीय क्रांतिकारियों से अलग ग़दरी क्रांतिकारी न सिर्फ़ धार्मिक शब्दावली के प्रयोग से दूर रहते थे बल्कि भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता को सचेत रूप से बढ़ाने के लिए किये जा रहे प्रयोगों की मुखर आलोचना करते थे। प्रथम विश्व-युद्ध के उस दौर में जब भारतीय राजनीतिक मुख्यधारा के सभी गुटों और व्यक्तित्वों ने अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय सामग्रियों, प्राकृतिक व मानव सम्पदा के अभूतपूर्व दोहन को बिना शर्त समर्थन दिया तब वे ग़दरी क्रांतिकारी ही थे जिन्होंने इस युद्ध को साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी ताक़तों के बीच दुनिया पर आधिपत्य के लिए छेड़ा गया एक युद्ध बताया।

बंगाल के क्रांतिकारियों ने अपने लिए अंग्रेज़ों के शब्द 'अराजकतावादी' को कभी स्वीकार नहीं किया। ख़ुद अपनी व्याख्या के लिए उनका प्रिय शब्द था बिप्लोबी (विप्लवी)। कई ग़दरियों को भी यह शब्द पसंद नहीं था। अमेरिका में ग़दर आंदोलन के नेता रामचंद्र ने *लंदन टाइम्स* में अपने आंदोलन को 'अराजकतावादी' बताए जाने पर लिखा कि वे 'अराजकतावादी' नहीं बल्कि वे 'राष्ट्रवादी' थे।

उनका मानना था कि इस युद्ध में अपने शासकों को समर्थन देने की बजाय उनके ख़िलाफ़ ही युद्ध छेड़ कर भारत को आज़ाद कराने का निर्णय लिया जाना चाहिए और उन्होंने ख़ुद इसकी पहल की। पंजाब के लेफ़्टिनेंट गवर्नर माइकल ओ डॉयर ने अपनी किताब में इस बात का विस्तार से ज़िक्र किया है कि ग़दरियों ने अंग्रेज़ों के लिए किस तरह की समस्याएँ पैदा की थीं। उन्होंने सिपाही विद्रोह के ऐसे कई प्रयास किये जिन्हें बिल्कुल आख़िरी समय में ही विफल किया जा सका।[21] हमने इस बात का पहले ही ज़िक्र किया है कि किस तरह अंग्रेज़ी हुकूमत को इनसे निपटने के लिए भारत सुरक्षा क़ानून के तहत कई कड़े क़ानून लाने पड़े और साथ ही कांग्रेसी नेताओं ने भी न सिर्फ़ ग़दर आंदोलन की निंदा की बल्कि अंग्रेज़ों द्वारा पारित किये गये काले क़ानूनों का भी समर्थन किया जबकि उसके कई प्रावधान लोक-अधिकारों के पूरी तरह से ख़िलाफ़ थे। ग़दर के राजनीतिक कार्यक्रम और कार्रवाइयों में धार्मिक शब्दावली या एकल आतंकी कार्रवाइयों की कोई जगह नहीं थी। वे आधुनिक विचारों पर आधारित संगठित आंदोलन के रास्ते को सही मानते थे। इसकी वजह से सरकार के लिए उन्हें 'आतंकवादी' या 'धार्मिक कट्टरपंथी' की संज्ञा दे पाना कठिन था। उस दौर के सरकारी दस्तावेज़ों में उनके लिए 'अराजकतावादी'(अनार्किस्ट) और 'क्रांतिकारी (रिवोल्यूशनरी) शब्दों का प्रयोग किया गया है। बंगाल के क्रांतिकारियों ने अपने लिए अंग्रेज़ों के शब्द 'अराजकतावादी' को कभी स्वीकार नहीं किया। ख़ुद अपनी व्याख्या के लिए उनका प्रिय शब्द था बिप्लोबी (विप्लवी)। कई ग़दरियों को भी यह शब्द पसंद नहीं था। अमेरिका में ग़दर आंदोलन के नेता रामचंद्र ने *लंदन टाइम्स* में अपने

[20] सनी कुमार (2017).

[21] माइकल ओ डायर (2015) : 132.

आंदोलन को 'अराजकतावादी' बताए जाने पर लिखा कि वे 'अराजकतावादी' नहीं बल्कि 'राष्ट्रवादी' थे। माया रामनाथ लिखती हैं, 'उस दौर के राजनीतिक विमर्श में अराजकतावादी का मतलब अर्थहीन हिंसा का कर्ता होना था ...। वे (ग़दरी) आतंकवादी शब्द से कहीं ज़्यादा अराजकतावादी शब्द का विरोध करते थे। (उस दौर में आतंकवादी) शब्द का प्रयोग ग़ैरक़ानूनी, षड्यंत्रकारी कार्रवाइयों की रणनीति के माध्यम से अपना प्रचार करने वालों के लिए किया जाता था और इसमें कोई नैतिक निंदा निहित नहीं थी।'[22]

1910 व 1920 के दशकों में चित रंजन दास, सुभाष चंद्र बोस, लाला लाजपत राय, गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे कांग्रेसी नेताओं से लेकर शचींद्रनाथ सान्याल, राम प्रसाद बिस्मिल और यशपाल जैसे उग्र-राष्ट्रवादियों की लेखनी में क्रांतिकारी, अराजकतावादी, आतंकवादी, बिप्लोबी आदि शब्द समान तरह की ग़ैरक़ानूनी, उपनिवेशवादविरोधी राजनीतिक कार्रवाइयों को रेखांकित करते थे। इसीलिए उनका इस्तेमाल एक दूसरे के स्थानापन्न के रूप में होता था। प्रथम विश्व-युद्ध और ख़ासकर रूसी क्रांति के बाद के दौर के आधिकारिक दस्तावेज़ों में इन शब्दों को लेकर भयपूर्ण चिंताएँ साफ़ देखी जा सकती हैं। अंग्रेज़ों के इस डर ने युवाओं के बीच इन शब्दों को लोकप्रिय करने में अपनी एक भूमिका निभायी।

1919 में भारत की राजनीति में गाँधी और कांग्रेस के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनांदोलनों के दौर का उद्‌भव हुआ। कांग्रेस राष्ट्रवादी आंदोलन की प्रमुख नेतृत्वकारी ताक़त ही नहीं बल्कि उसकी एकमात्र प्रवक्ता भी बने रहना चाहती थी। इस वजह से उसने उग्र-राष्ट्रवादियों और क्रांतिकारी गुटों से आधिकारिक वार्ता करने की बजाय उनकी सशस्त्र हिंसा की नीति को नाजायज़ घोषित करते हुए उन्हें पूरी तरह ख़ारिज किया। यह दिलचस्प बात है कि हिंसक संघर्ष को हर रूप में ख़ारिज करने के बावजूद गाँधीवादी अहिंसा का विमर्श भी त्याग और क़ुरबानी की नैतिक भाषा को उतना ही केंद्र में रखता था जितना कि क्रांतिकारी विमर्श। त्याग और क़ुरबानी पर केंद्रित इसी नैतिक विमर्श पर चलते हुए अपने जीवन का बलिदान करके एक उदाहरण बन गये ख़ुदी राम बोस, मदन लाल धींगरा, करतार सिंह सराभा जैसे कई युवा क्रांतिकारी अपने-अपने क्षेत्रों के जनमानस में बस गये, भले ही अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीय अभिजात वर्ग ने उनकी हमेशा भर्त्सना की हो। जब गाँधी ने उसी त्याग के उदाहरण बन जाने वाले सत्याग्रही का आह्वान किया तो अभिजात वर्ग नहीं बल्कि निम्न वर्ग के वे लोग ही सामने आये जो अपने स्थानीय क्रांतिकारियों से प्रेरित थे। वे भले ही गाँधी को ज़्यादा परिपक्व नेता मानते थे लेकिन उन्होंने क्रांतिकारियों के बलिदान को कभी ख़ारिज नहीं किया। यहाँ तक कि गाँधी के आह्वान पर आंदोलन में कूदे आम लोग कई बार गाँधी के ही अहिंसा के कड़े सिद्धांतों से अलग होकर हिंसक संघर्ष को अपना लेते थे।

मैं कहीं से भी गाँधी द्वारा उपनिवेशवाद आंदोलन में व्यापक जन भागीदारी को सुनिश्चित कराने को कम करके नहीं आँक रहा हूँ, ख़ासकर तब, जब दशकों तक क्रांतिकारी गुट यह करने में विफल रहे। जहाँ एक ओर लम्बे दौर तक क्रांतिकारियों ने आम लोगों से जुड़ने का कोई सुनियोजित प्रयास नहीं किया, वहीं गाँधी ने दक्षिण अफ़्रीका की अपनी पहलक़दमियों या वहाँ से लौटने पर पूरे भारत की रेल यात्रा से या चम्पारण, खेड़ा और अहमदाबाद में अपने हस्तक्षेपों से, हर जगह आम लोगों को जोड़ने का प्रयास किया। सुदूर क्षेत्रों तक लोगों के बीच गाँधी की छवि इंसाफ़ दिलाने वाले एक संत की बन गयी और गाँधी ने भी शहर से लेकर गाँवों तक फैले लोगों से राजनीतिक संवाद करने की सांस्कृतिक भाषा विकसित कर ली। यह एक अभूतपूर्व परिघटना थी जिसे अंज़ाम दे पाने में बंगाली,

[22] माया रामनाथ (2011) : 45-46.

मराठी, पंजाबी, ग़दरी आदि क्रांतिकारी कभी इतने सफल नहीं हो पाए। अपने एक अन्य लेख में मैंने इस बारे में विस्तार से चर्चा कि है कि किस तरह विश्व-युद्ध के दौरान अंग्रेज़ी दोहन और दमन के ख़िलाफ़ जनमानस को तैयार करने में ग़दरी समेत अन्य क्रांतिकारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।[23] जब गाँधी ने पहली बार रौलट एक्ट के ख़िलाफ़ सत्याग्रह का आह्वान किया तब उनकी अपेक्षा से कहीं ज़्यादा संख्या और उग्रता के साथ आम लोग आंदोलन में उतरे। यह आक्रामकता अंग्रेज़ी क़ानून के भय और गाँधी के कड़े नियमों से परे क्रांतिकारियों की राजनीतिक सोच और किसान-आदिवासी आंदोलनों की उग्रता से ज़्यादा मेल खाती थी और आंदोलन से प्रभावित क्षेत्र में अंग्रेज़ी शासन को उसी तरह ख़त्म करने का प्रयास करती थी।

रौलट सत्याग्रह और असहयोग आंदोलन में उग्र-जनभागीदारी इस बात का सबूत थी कि भारत रक्षा क़ानून और मार्शल लॉ लगाने से अंग्रेज़ों को प्रत्याशित परिणाम नहीं मिले। इन क़ानूनों का लक्ष्य सिर्फ़ क्रांतिकारियों पर लगाम लगाना नहीं बल्कि राज्य में वैध हिंसा पर उसका एकाधिकार और वैध राजनीति की उसकी परिभाषा को जन मानस में स्वीकृत कराना था। इसके लिए 'राज्य-द्रोह', 'षड्यंत्र' और 'आतंकवाद' जैसे कई क़ानूनी सिद्धांत गढ़े गये जो राज्य को बिना साफ़ सबूत के लोगों को सज़ा देने के लिए अधिकृत करते थे। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को रोकने के लिए ईज़ाद किये गये इस तरह के दमनकारी क़ानूनों को, जो कई मानवाधिकारों का उल्लंघन करते थे, भारतीय अभिजात वर्ग का समर्थन मिला। लेकिन 1919-20 में व्यापक जनभागीदारी ने यह दिखाया कि आम लोग इन क़ानूनों को स्वीकार नहीं कर रहे थे।[24]

आम लोगों के बीच हिंसा को निंदनीय बनाने का अंग्रेज़ों का प्रयास जब विफल हो रहा था तभी उनकी इस इच्छा को पूरा करने का ज़िम्मा उनके ही एक विरोधी ने उठाया। वे कोई और नहीं गाँधी थे। उन्होंने अपने राजनीतिक सिद्धांतों और आंदोलनों में अहिंसा को प्राथमिक शर्त बनाया और हिंसा को सबसे अनैतिक काम बताया। जब उन्होंने चौरी-चौरा की घटना के बाद असहयोग आंदोलन वापस ले लिया तो यह साफ़ हो गया कि वे हिंसा को अंग्रेज़ों से ज़्यादा बड़ा शत्रु मानते थे। उनके इस क़दम ने भगत सिंह जैसे कई युवाओं को, जिन्होंने उस आंदोलन में भरपूर भागीदारी की थी, निराश किया और उनसे दूर किया। शचींद्र नाथ सान्याल जैसे कई पुराने क्रांतिकारी भी इसी तरह पहले गाँधी के आंदोलन में शरीक हुए और फिर उससे दूर होकर वापस क्रांतिकारी धारा को पुनर्स्थापित करने में लग गये। भगत सिंह जैसे कई युवा भी इस मुहिम में शामिल हो गये। गाँधी ने इन लोगों को 'भ्रमित देशभक्त' और 'विवेक से परे' बताया।[25] 1920 के दशक के अपने कई लेखों में गाँधी ने इन लोगों की कड़ी निंदा की जिससे इन पर काफ़ी राजनीतिक और सामाजिक दबाव बना। कई तो सूली पर चढ़ते वक़्त भी अपने आलोचकों को जीतने का प्रयास करते रहे।

अशफ़ाकुल्लाह ने 16 दिसम्बर, 1927 को फ़ैज़ाबाद जेल से अपने आख़िरी संदेश में कहा :

> भारतमाता के रंगमंच पर हम अपनी भूमिका अदा कर चुके हैं। ग़लत किया या सही, जो भी हमने किया, स्वतंत्रता-प्राप्ति की भावना से प्रेरित होकर किया। हमारे अपने (अर्थात् कांग्रेसी नेता) हमारी निंदा करें या प्रशंसा, लेकिन हमारे दुश्मनों तक को हमारी हिम्मत और वीरता की प्रशंसा करनी पड़ी है। लोग कहते हैं कि हमने देश में आतंकवाद (टेररिज़्म) फैलाना चाहा है, यह ग़लत है। इतनी देर तक मुक़दमा चलता रहा। हममें से बहुत-से लोग बहुत दिनों तक आज़ाद रहे और अब भी कुछ लोग आज़ाद हैं (संकेत चंद्रशेखर आज़ाद की ओर है)। फिर भी हमने या हमारे किसी साथी ने हमें

---

[23] सनी कुमार, वही.

[24] हम यह जानते हैं कि दोनों ही आंदोलनों में हिंसा इतनी व्यापक थी कि ख़ुद गाँधी को ही इसकी कई बार कड़ी निंदा करनी पड़ी.

[25] एस. इरफ़ान हबीब (2007) : 104.

नुक़सान पहुँचाने वालों तक पर गोली नहीं चलाई। हमारा उद्देश्य यह नहीं था। हम तो आज़ादी हासिल करने के लिए देश-भर में क्रांति लाना चाहते थे।[26]

शचींद्र नाथ सान्याल द्वारा लिखे गये हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचआरए) के एक जनवरी, 1925 को जारी किये गये घोषणापत्र में भी इस विषय पर चर्चा थी :

> भारतीय क्रांतिकारी न तो आतंकवादी हैं न ही अराजकतावादी ... वे यह नहीं मानते कि सिर्फ़ आतंकवाद से ही आज़ादी हासिल की जा सकती है। वे सिर्फ़ आतंकवाद की ख़ातिर आतंकवाद नहीं चाहते, भले ही वे कभी-कभी प्रभावी जवाबी कार्रवाई के बतौर इसका इस्तेमाल करते रहे हों। मौजूदा सरकार का वजूद सिर्फ़ इस बात पर आधारित है कि विदेशियों ने सफलतापूर्वक भारतीयों को आतंकित कर रखा है ...। इस सरकारी आतंकवाद के बदले जवाबी-आतंकवाद ज़रूरी है। समाज के हर वर्ग में ज़बरदस्त निराशा का भाव है और इसे दूर कर समाज में जोश भरने के लिए आतंकवाद एक प्रभावी तरीक़ा बन जाता है।[27]

यह साफ़ दिख रहा है कि अपने आलोचकों का जवाब देने और अपने आतंक को अपना एकमात्र हथियार न बताते हुए भी एचआरए के क्रांतिकारियों ने अपनी आतंकी कार्रवाइयों को सही ठहराया। यह वह दौर था जब 'आतंकवाद' शब्द को मासूम नागरिकों की नृशंस हत्या से जोड़ कर नहीं देखा जाता था। एचआरए के दस्तावेज़ इस ओर संकेत करते हैं कि उनके सदस्य किस प्रकार दुनिया भर में आधुनिकता, नागरिक अधिकार, जनतंत्र के सिद्धांत आदि से जुड़े प्रचलित विचारों के बारे में पढ़ रहे थे। लेकिन भारत में राजनीतिक गुटों और धाराओं के मूल्यांकन और उनसे अपने संबंधों को लेकर उनके पास ऐसा कोई विकसित अध्ययन नहीं था जो 1927 के बाद भगत सिंह के लेखों में दिखता है। यह एक विचारणीय विषय है कि जितनी तत्परता गाँधी अंग्रेज़ों से वार्ता में दिखाते हैं, उसके बनिस्बत कहीं ज़्यादा असहनशीलता उन्होंने क्रांतिकारियों के संदर्भ में दिखायी। इसके बारे में विस्तार से चर्चा इस लेख के दायरे में सम्भव नहीं है फिर भी इस बात की तरफ़ ज़रूर इशारा किया जा सकता है कि क्रांतिकारियों की राजनीति और उनके तरीक़ों को नैतिक रूप से असहनीय बताते हुए उन्हें पूरी तरह ख़ारिज कर गाँधी ने जन-राजनीति से हथियारों को पूरी तरह अलग कर देने में केंद्रीय भूमिका निभायी। जनता का सम्पूर्ण नि:शस्त्रीकरण और शस्त्रों पर एकाधिकार अंग्रेज़ों की पुरानी लेकिन अपूर्ण ख़्वाहिश थी जिसे गाँधी के निर्णय से बल मिला। लेकिन इन प्रयासों को क्रांतिकारियों का विरोध झेलना पड़ा तथा भगत सिंह और उनके विचारों को मिले ज़बरदस्त समर्थन ने इसमें बड़ी भूमिका निभायी।

भगत सिंह के विचारों के उद्भव को मुख्यत: दो स्रोतों में ढूँढ़ा जा सकता है। जहाँ एक तरफ़ वे पंजाबी, ख़ासकर निम्नवर्गीय सिख, किसानों के मुग़लों से लेकर अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ साम्राज्य विरोधी संघर्षों की धारा से प्रभावित थे (जिसके सबसे समकालीन उदाहरण उनके चाचा अजीत सिंह और पिता किशन सिंह थे), वहीं दूसरी तरफ़ क्रांति और उसके बाद के दौर की सोवियत रूस की परिघटनाओं, बोल्शेविज़म की विचारधारा के साथ-साथ यूरोप में व्याप्त आधुनिकता, राष्ट्रवाद, अराजकतावाद आदि विचारों का भी वे गम्भीर और सिलसिलेवार अध्ययन कर रहे थे। इसीलिए उनकी राजनीतिक समझ और कार्यप्रणाली में हिंसा को लेकर कोई विचारधारात्मक समस्या नहीं थी। 19-20 वर्ष की उम्र से ही वे *कीर्ति* और *प्रताप* जैसे कई अख़बारों के लिए नियमित लेख लिखने लगे जिसमें वे सामाजिक मुद्दों और राजनीतिक परिघटनाओं, ख़ासकर अंग्रेज़ों की नीतियों और कांग्रेस की राजनीति का सूक्ष्म और आलोचनात्मक विश्लेषण करते थे। *कीर्ति* में छपे अपने एक लेख को उन्हें इस विषय पर केंद्रित किया कि किस तरह अंग्रेज़ों की ब्रिटिश आर्म्स एक्ट की नीति और कांग्रेस की राजनीतिक सोच और तरीक़ों ने भारत देश को नि:शस्त्र कर दिया है।[28]

---

[26] चमन लाल और जगमोहन सिंह, वही : 82.

[27] डी.एन. गुप्ता (सं.) : 113-119.

[28] चमन लाल और जगमोहन सिंह, वही : 226-30.

उनके अनुसार क्रांतिकारियों की एक व्यापक जन-सदस्यता वाली पार्टी न बना पाने की विफलता भी इसका कारण थी।[29] वे एक अन्य लेख में लिखते हैं कि क्रांतिकारियों द्वारा की गयी कार्रवाइयाँ सिर्फ़ अंग्रेज़ों के ज़ुल्म का बदला लेने के मक़सद से नहीं बल्कि इस देश के लोगों की दमन और शोषण के ख़ात्मे की राजनीतिक आकांक्षा को राजनीतिक अभिजात वर्ग द्वारा धूमिल करने के प्रयासों को ध्वस्त करने की सोच से की जाती थीं। क्रांतिकारियों की कार्रवाइयाँ उनके लिए जनता के बीच क्रांतिकारी पार्टी के अस्तित्व और विचार पहुँचाने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम थीं जिसे वे अपने लेखों में 'प्रोपेगेंडा' कहते थे। भगत सिंह के लेख, राजनीतिक पर्चे और असेम्बली बम काण्ड के दौरान दिये गये बयान 1929-30 के वर्षों में देश के हर कोने में प्रचलित हो गये।

इस लेख के आख़िरी हिस्से में मैं अब भगत सिंह और उनके साथियों पर चले मुक़दमे और जेल में उनकी भूख हड़ताल के राजनीतिक मायनों पर चर्चा करूँगा। दिल्ली बमकाण्ड और लाहौर कांसपिरेसी केस के मुक़दमे के दौरान दिये गये बयानों और 72 दिनों की भूख हड़ताल के दौरान किये गये ज़ुल्म ने भारतीय लोगों के मन से भगत सिंह और उनके साथियों पर अंग्रेज़ों द्वारा अपराधी और गाँधी द्वारा अनैतिक होने के इल्ज़ाम को पूरी तरह हटा दिया। चारों तरफ़ क्रांतिकारियों के लिए उभरे जन समर्थन ने अंग्रेज़ों को चौंका दिया। अपनी बौख़लाहट में अंग्रेज़ों ने नियम-क़ानूनों को ताक़ पर रख कर जेल से लेकर कोर्ट तक भगत सिंह और उनके साथियों पर काफ़ी ज़ुल्म किये। सरकार ने न्यायसंगत होने के सारे आडम्बर ख़त्म कर दिये। गवर्नर जनरल ने अपनी आपातकालीन शक्तियों (सेक्शन 72, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया एक्ट 1919) का इस्तेमाल करते हुए लाहौर कांसपिरेसी केस की सुनवाई एक मई, 1930 को बीच में ही रोक दी। उन्होंने एक अध्यादेश पास कर एक तीन-सदस्यीय ट्रिब्यूनल स्थापित किया जिसकी अवधि छह महीने तय कर दी गयी। इसका मतलब था कि इस ट्रिब्यूनल को अभियुक्तों को छह महीने में ही सज़ा सुनानी थी, जो पहले से ही तय थी। इस ट्रिब्यूनल के बनते ही अभियुक्तों से अपील के सारे अधिकार छीन लिए गये। ट्रिब्यूनल को कई अभूतपूर्व अधिकार दिये गये जैसे कि अभियुक्त की अनुपस्थिति में भी सुनवाई करना, जिसका इस्तेमाल सुनवाई के चौदहवें दिन ही किया गया। जस्टिस आगा ख़ाँ हैदर ने बतौर ट्रिब्यूनल मेम्बर क़ानूनी प्रक्रिया को बनाए रखने का प्रयास किया लेकिन उन्हें भी बीच में ही हटा दिया गया।

बीस के दशक की भारतीय राजनीति में कांग्रेसी और कई अन्य संगठनों ने समाज के हर वर्ग के बड़े हिस्से को जोड़ा और कई तरह की आधुनिक संस्थाओं का इस्तेमाल किया तथा राजनीतिक गतिविधियों और सांस्कृतिक प्रतीकों का अविष्कार किया। इन सब माध्यमों से जागरूक किये जा रहे लोग कई बार इन माध्यमों का इस्तेमाल अपने अनुभव और विचार एक-दूसरे तक पहुँचाने और उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन के नेताओं द्वारा तय सूत्रीकरण में बदलाव करने के प्रयास के लिए भी करते थे। जहाँ एक ओर इसी दौर में हिंदू साम्प्रदायिक संगठन भी लोगों के बीच मक़बूल हुए और उनकी पकड़ कांग्रेस के भीतर भी मज़बूत हुई, वहीं दूसरी ओर कई तरह के क्षेत्रीय किसान और मज़दूर आंदोलन उभरे जिन्हें राज्य का ज़बरदस्त दमन झेलना पड़ा। कांग्रेस न तो बढ़ती साम्प्रदायिकता से लड़ रही थी और न किसान और मज़दूर आंदोलनों का खुल कर समर्थन कर रही थी। इस दौर में भगत सिंह और उनके संगठन हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी (हिसरिपा) के साथी ही वह संगठित ताक़त बन कर उभरे जिन्होंने राष्ट्रवादी आंदोलन का क्रांतिकारी, समझौतारहित साम्प्रदायिकता विरोधी सूत्रीकरण करने की कोशिश की और इसके

[29] वही : 172-230.

लिए कांग्रेस से लगातार खुली बहस भी की। एस. इरफ़ान हबीब लिखते हैं, 'व्यापक जन गिरफ़्तारी सहित 1930–32 के सविनय अवज्ञा आंदोलन को जो सफलताएँ मिलीं, उसका श्रेय 1928, 1929 और 1930 के वर्षों में हिसरिपा के सदस्यों द्वारा दी गयी बहादुराना क़ुरबानियों को जाता है। अपनी साहसिक कार्रवाइयों के माध्यम से उन्होंने लोगों की राजनीतिक चेतना को काफ़ी उभार दिया। लोगों ने यह सोचा कि भले ही वे भगत सिंह और उनके साथियों की तरह अपने जीवन का बलिदान नहीं दे सकते लेकिन 1930 की शुरुआत में कांग्रेस के संघर्षों के आह्वान में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।'[30]

अपने जीवन के आख़िरी दौर में 23 वर्षीय भगत सिंह क्रांतिकारी राजनीति में व्यक्तिगत हत्याओं की निंदा करने लगे। वे जेल में थे, जब उनके साथियों ने वाइस रीगल स्पेशल को बम से उड़ाने का प्रयास किया जिसकी ओर इशारा करते हुए भगत सिंह अपने आख़िरी लेखों में से एक, 'युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम संदेश' में लिखा :

> मैं अपनी पूरी ताक़त से यह कहना चाहता हूँ कि क्रांतिकारी जीवन के शुरू के चंद दिनों के सिवाय न तो मैं आतंकवादी हूँ और न ही था; और मुझे पूरा यक़ीन है कि इस तरह के तरीक़ों से हम कुछ भी हासिल नहीं कर सकते। हिंदुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन पार्टी के इतिहास से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। हमारे सभी काम इसी दिशा में थे, यानी बड़े राष्ट्रीय आंदोलन के सैनिक विभाग की जगह अपनी पहचान करवाना। यदि किसी ने मुझे ग़लत समझा है तो वे सुधार कर लें। मेरा मतलब यह कदापि नहीं है कि बम व पिस्तौल बेकार हैं, वरन इसके विपरीत वे लाभदायक हैं। लेकिन मेरा मतलब यह ज़रूर है कि केवल बम फेंकना न सिर्फ़ बेकार बल्कि नुक़सानदायक है। पार्टी के सैनिक विभाग को हमेशा तैयार रहना चाहिए, ताकि संकट के समय काम आ सके। इसे पार्टी के राजनीतिक काम में सहायक के रूप में होना चाहिए। यह अपने आप स्वतंत्र काम न करे।[31]

मेरा यह मानना है कि न तो बूर्ज्वा सभ्यता, न आधुनिक 'रूल ऑफ़ लॉ' के सिद्धांत और न ही हिंसा की गाँधीवादी निंदा ने भगत सिंह को इस निष्कर्ष पर पहुँचाया। यह सूत्रीकरण भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन की परिपक्वता का परिचायक था।

निष्कर्ष

इस लेख में मैंने औपनिवेशिक काल में 'आतंकवाद' शब्द के आधिकारिक इस्तेमाल और उसके राजनीतिक निहितार्थ का अध्ययन किया है। मेरा यह तर्क है कि कई अन्य क़ानूनी अवधारणाओं की तरह 'आतंकवाद' शब्द का इस्तेमाल ब्रिटिश सरकार ने राजनीति को क़ानून द्वारा नियंत्रित करने और क्रांतिकारियों की गतिविधियों को जुर्म की संज्ञा देने के लिए किया। गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेसी राष्ट्रवादियों ने भी उन गतिविधियों को अनैतिक घोषित कर उनकी सामाजिक स्वीकार्यता ख़त्म करने की कोशिश की। सरकार का हथियार और हिंसा पर एकाधिकार बनाने के लक्ष्य में उन्हें कांग्रेस का जाना-अनजाना समर्थन मिला। लेकिन समझौताविहीन उपनिवेशवाद विरोध की राजनीति को अलोकप्रिय और अराजनीतिक घोषित करने के इन प्रयासों को क्रांतिकारियों ने पूरा नहीं होने दिया। बीस के दशक के अंत में वे जनता के बीच अत्यंत लोकप्रिय हो गये। भगत सिंह की लोकप्रियता गाँधी के बराबर समझी जाने लगी और इस तरह उपनिवेशवाद विरोधी जनांदोलन से क्रांतिकारियों को अलग करने का प्रयास विफल ही रहा।

भगत सिंह और उनके साथियों की फाँसी के बाद तीस के दशक में सरकार के दमन ने क्रांतिकारी आंदोलन को तोड़ दिया। लेकिन फिर भी जनमानस में 'आतंकवाद' को एक अनैतिक, अराजनीतिक

---

[30] एस. इरफ़ान हबीब, वही : 130.

[31] चमन लाल और जगमोहन सिंह, वही : 355–56.

और घृणित अर्थ देने का प्रयास सफल नहीं हो पाया। तीस के दशक और उसके बाद के राष्ट्रीय राजनीतिक विमर्श से यह शब्द लगभग ग़ायब हो गया। देश के कई कोनों में उभरते हिंसक संघर्षों को क़ानून-व्यवस्था की समस्या के रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक सवाल के रूप में देखा जाने लगा। कांग्रेसी राष्ट्रवादियों ने भी ज़्यादा राजनीतिक परिपक्वता दिखा कर क्रांतिकारियों और उग्रवादियों को ख़ारिज करने की बजाय उन्हें अन्य तरीक़ों से कमज़ोर किया। कुल मिलाकर इस प्रक्रिया का दिलचस्प परिणाम यह निकला कि तीस के दशक के बाद भारतीय राजनीति में हिंसा का इस्तेमाल कर रहे दोनों पक्ष— अंग्रेज़ी हुकूमत और क्रांतिकारी संगठन— हाशिये पर जाते दिखाई देने लगे और कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रवादी अपनी पकड़ मज़बूत करने लगे।

(इस लेख के शुरुआती अंशों को मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग द्वारा अप्रैल, 2014 में आयोजित यंग रिसर्चर कॉन्फ्रेंस और दिसम्बर, 2014 की इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस में पढ़ा था। उसके बाद यह *सोशल साइंटिस्ट* जर्नल के मार्च-अप्रैल, 2015 अंक में प्रकाशित हुआ। यह लेख मेरे उसी शोध का संशोधित और परिपक्व संस्करण है.)

संदर्भ

अरविंद घोष का लेख, 'कर्मयोगी : अर्ली पॉलिटिकल राइटिंग्ज़', निवेदिता मजूमदार (2011) (सं.), द *अदर साइड ऑफ़ टेरर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

एत्येन बालिबार और इमानुएल वालरस्टीन (1991), *रेस, नेशन, क्लास : ऐम्बिगुअस आइडेंटीटीज़,* वर्सो, लंदन.

एस. इरफ़ान हबीब (2007), *टू मेक द डेफ़ हिअर : आइडियालॅजी ऐंड प्रोग्राम ऑफ़ भगत सिंह ऐंड हिज़ कॉमरेड्स,* थ्री एस्सेज़ कलेक्टिव, गुडगाँव.

चमन लाल और जगमोहन सिंह (2001), (सं.) *भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज़,* में भगत सिंह का लेख 'पंजाब के पहले विद्रोही श्री मदन लाल धींगरा', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

ज्यॉर्जियो अगम्बेन (2005), *स्टेट ऑफ़ एक्सेप्शन,* अनु. केविन अत्टेल, द युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

'टेरर, टेररिज़म, स्टेट्स ऐंड सोसाइटीज' में रनबीर समदार का लेख, समीर कुमार दास और रादा इवेकोविक (सं.) (2010), *फ़िलॉसोफ़ीज़ ऐंड ऐक्शंस,* वीमेन अनलिमिटेड, नयी दिल्ली.

डी.एन. गुप्ता (सं.), *भगत सिंह, सिलेक्टेड स्पीचेज ऐंड राइटिंग्स,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

नासिर हुसैन (2003), द *जुरिस्प्रुडेंस ऑफ़ इमरजेंसी : कोलोनिअलिज़म ऐंड द रूल ऑफ़ लॉ,* नासिर हुसैन, द युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, डीयरबॉर्न.

पार्थ चटर्जी (2009), 'टेररिज़म : स्टेट सोव्रेनिटी ऐंड मिलिटेंट पॉलिटिक्स इन इण्डिया', कैरोल ग्लूक और अन्ना लोवेन्हौट सिंग (सं.), *वर्ड्स इन मोशन : टुवर्ड्स अ ग्लोबल लेक्सिकॉन,* ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

मनीषा सेठी (2014), *काफ़्कालैण्ड : प्रेजुडिस, लॉ ऐंड काउंटरटेररिज़म इन इण्डिया,* थ्री एस्सेज़ कलेक्टिव, गुड़गाँव.

माइकल ओ डायर (2015), *इण्डिया ऐज़ आई न्यू इट,* यूनिस्टार, चंडीगढ़.

माया रामनाथ (2011), *डीकोलोनाइज़िंग अनारकिज़म,* ए.के. प्रेस, ऑकलैण्ड.

रॉबर्ट डार्नटन (2001), 'लिटरेरी सर्वेलेंस इन द ब्रिटिश राज', *बुक हिस्ट्री,* 4.

वायसराय का भाषण, लेजिस्लेटिव काउंसिल प्रोसिडिंग, इण्डिया (1914-1915), खण्ड LIII.

श्रुति कपिला (2010), 'सेल्फ़, सेंसर ऐंड स्वराज : नैशनलिस्ट थॉट ऐंड क्रिटिक्स ऑफ़ लिबरलिज़म, 1890-1920', *मॉडर्न इंटलेक्चुअल हिस्ट्री जर्नल.*

सिडीशन कमिटी रिपोर्ट (1918), सुपरिंटेंडेंट गवर्नमेंट प्रिंटिंग, कलकत्ता.

सुमित सरकार (1983), *मॉडर्न इण्डिया : 1885-1947,* मैकमिलन इण्डिया, नयी दिल्ली.

सनी कुमार (2017), *ग़दर मूवमेंट आफ़्टर अ सेंचुरी : अ स्टडी इन इट्स हिस्ट्री ऐंड हिस्टोरियोग्राफ़ी,* एनएमएमएल ऑकेज़नल पेपर, *हिस्ट्री ऐंड सोसाइटी,* न्यू सीरीज़-91, नेहरू मेमोरियल म्युज़ियम ऐंड लाइब्रेरी, नयी दिल्ली.